T.D.C part-I Thinking

समस्या - समाधान में तत्परता की भूमिका (Role of Set in Problem Solving)

चिन्तन में मानसिक तत्परता का बहुत बड़ा हाथ होता है। किसी समस्या के पहले व्यक्ति एक मानसिक तैयारी करता है कि वह अपनी समस्या के समाधान के लिए किस प्रकार का व्यवहार करे। उसकी इसी मानसिक प्रक्रिया को तत्परता कहते हैं। चैपलिन (Chaplin 1975) के अनुसार "तत्परता (Set) प्राणी की वह अल्पाई अवस्था है जो उसे एक विशेष ढंग से प्रतिक्रिया करने के लिए तत्पर बनाती है"। माएर (Maier, 1930) ने तत्परता को परिभाषित करते हुए कहा है कि, "समस्या का समाधान करते समय सम्भवतः प्राणी अनुमान करता है कि इस समस्या का समाधान अमुक दिशा में व्यवहार करने से हो सकता है"। इसरे शब्दों में वह अनुमान करता है कि लक्ष्य अमुक दिशा में उपलब्ध हो सकता है। तत्परता की उत्पत्ति कभी तो अभ्यास करने से और कभी प्रयोगकर्ता द्वारा दिये गये निर्देशन से होती है। अधिक समय तक अभ्यास करने से प्राणी में एक विशेष तत्परता उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह, अध्ययन के समय प्रयोगकर्ता कुछ विशेष निर्देशन देता है, जिससे जिससे प्रयोज्य में एक खास तरह की तत्परता उत्पन्न हो जाती है।

चिन्तन में तत्परता का महत्वपूर्ण स्थान देखा जाता है। जब तत्परता सही होती है तब तो समस्या का समाधान सरल बन जाता है, लेकिन गलत तत्परता के कारण (wrong set) के कारण समस्या का समाधान कठिन तथा विलम्बित (delayed) हो जाता है। उक्त तत्परता से एक ओर समस्या समाधान में सहायता मिलती है तो दूसरी ओर इसमें बाधा भी होती है। अब यहाँ तत्परता के दोनों पक्षों को अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

(a) <u>तत्परता के लाभ</u> → तत्परता का धनात्मक मूल्य (Positive value) सकारात्मक के रूप में देखा जाता है। समस्या का समाधान करते समय जब प्राणी में सही तत्परता का निर्माण होता है तो प्राणी को सही प्रतिक्रिया करने और गलत प्रतिक्रिया से बचने का लाभ होता है। तत्परता के धनात्मक मूल्य को प्रमाणित करने के लिए एक प्रारंभिक अध्ययन वाट (Watt, 1905) ने किया। उन्होंने अपने अध्ययन में देखा कि नियंत्रित समूह की अपेक्षा प्रयोगात्मक समूह के प्रयोज्यों को अपनी समस्या के समाधान में अधिक सुविधा का अनुभव हुआ। इसकी व्याख्या करते हुए वाट ने बताया कि प्रयोगात्मक समूह के प्रयोज्यों में अभ्यास के कारण सही तत्परता उत्पन्न हुई जिससे उनमें समस्या के समाधान में आसानी हुई। मायर ने (Maier, 1930) ने तत्परता के लाभकारी प्रभाव को दिखाने के लिए कई प्रयोग किये हैं जिनमें तीन प्रयोग प्रमुख हैं इन तीनों प्रयोग में इन्होंने यह दिखलाया कि तत्परता को किस तरह से शाब्दिक निर्देश द्वारा प्रभावित किया जा सकता है जो बाद में व्यक्ति को समस्या के समाधान में मदद करता है। हम यहाँ सिर्फ एक समस्या से संबंधित प्रयोग का उल्लेख करेंगे। इसे "दोलक समस्या" कहते हैं। यह प्रयोग कॉलेज के छात्रों पर किया गया। इन छात्रों को दो दोलक बनाना था। इसके लिए छात्रों को एक-एक करके कमरे में बुलाया जाता था। इस कमरे में बहुत तरह की सामग्रियाँ जैसे, लकड़ी की छड़ें (Strips) शिकंजे (Clamps) तार (बिजली के तार), चित्रांकनी एक मोटे टेबुल आदि थे। प्रयोज्यों से इन सामग्रियों द्वारा दो दोलक बनाने तथा इस प्रकार झुलाने के लिए कहा गया कि वे

निश्चित स्थानों पर चिन्ह बना सकें। एक समूह के प्रयोज्यों को सही दिशा का संकेत दे दिया गया। प्रयोगकर्ता ने उनसे कहा कि वे छत में दो कीलों के सहारे लोलक को लटका सकें तो समस्या आसान बन जाएगी। दूसरे समूह के प्रयोज्यों को किसी तरह की दिशा का संकेत नहीं दिया गया। परिणामों के मद देखा गया कि पहले समूह के लगभग 35% और दूसरे समूह के केवल लगभग 2% प्रयोज्यों ने अपनी समस्या का समाधान किया। हालांकि दोनों समूहों के प्रयोज्यों को समस्या-समाधान के लिए आवश्यक पूर्व अनुभव समान था। अतः इससे स्पष्ट हुआ कि सही तत्परता मिल जाने पर समस्या का समाधान आसान बन जाता है।

वेवर एवं मैडेन (Weaver and Madden, 1949) ने मायर के प्रयोग को दोहराया और देखा कि कुछ प्रयोज्यों में प्रयोगकर्ता से बिना किसी संकेत मिले भी सही दिशा या तत्परता उत्पन्न हो गई। देखा गया कि किसी खास दिशा में प्रयास करने पर प्रयोज्यों को सफलता की कोई आशा नजर नहीं आई तो वे अपने पहले प्रयास को छोड़ कर दूसरी दिशा में प्रयत्नशील हो गये और अन्त में सफलता मिल गई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सही तत्परता मिल जाने पर समस्या को हल करने में आसानी होती है।

(b) तत्परता की हानि → गलत तत्परता या गलत दिशा (wrong direction) से समस्या-समाधान में बड़ी हानि होती है। इसे तत्परता का अवरोधक प्रभाव कहते हैं। इस प्रकार की तत्परता उत्पन्न होने पर प्राणी गलत दिशा में प्रयास करने लगता है, जिससे समस्या का

समाधान कठिन हो जाता है और समस्या तब तक हल नहीं हो पाती है जब तक कि वह इस तत्परता को छोड़कर सही दिशा में सक्रिय नहीं होता है। डंकर (Duncker, 1935, 1945) ने तत्परता के इस अवरोधक प्रभाव को कार्यात्मक स्थिरता की संज्ञा दी है। इसका कारण यह है कि गलत तत्परता के उत्पन्न हो जाने से प्राणी एक ही दिशा में स्थिर होकर व्यवहार करने लगता है। वह दूसरी दिशा के तरफ ध्यान नहीं देता क्योंकि, वह समस्या के समाधान के दूसरे उपायों के प्रति अंधा बन जाता है।

गलत तत्परता के बाधक प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए एडमसन (Adamson, 1952) ने एक प्रयोग किया। प्रयोज्य को मोमबत्ती, तीन छोटे-2 दफ्ती-बक्से, पाँच दिया-सलाई आदि सामग्रियाँ दी गई। उन्हें आदेश दिया गया कि वे मोमबत्तियों को उदग्र दिवार (Vertical wall) की सतह पर जलती हुई अवस्था में लगा दें। समस्या अधिक कठिन नहीं थी। कारण यह था कि मोम के सहारे बक्स पर मोमबत्तियों को गड़ाकर टाँके की मदद से दीवार पर लगा दिया जाए। प्रयोगात्मक समूह के प्रयोज्यों में कार्यात्मक स्थिरता उत्पन्न की गई। इसके लिए तीनों बक्सों में मोमबत्तियाँ, दिया-सलाई तथा टाँकों को भरकर प्रयोज्य को दिया गया। इससे उनमें यह विचार विकसित किया गया कि बक्से प्रायः पात्र का काम करते हैं, चबुतरा का नहीं। नियंत्रित समूह के प्रयोज्यों में इस तरह की कार्यात्मक स्थिरता उत्पन्न नहीं की गई। उन्हें तीन खाली बक्से दिये गये और बाकी सभी सामग्रियों को टेबुल पर रख दिया गया। देखा गया कि प्रयोगात्मक समूह के 29 प्रयोज्यों में से केवल 12 (41%) प्रयोज्य ने और नियंत्रित समूह के 28 प्रयोज्यों में से 24 (86%)

Part-I

Thanking

चिंतन में भाषा का महत्व (Role of Language in Thinking)

चिन्तन में भाषा का क्या महत्व है, यह एक विवादास्पद विषय है। इस विषय में भिन्न-2 मनोवैज्ञानिकों के विचार भिन्न-2 है। मनोवैज्ञानिकों के इन सभी विचारों को निम्नांकित तीन भागों में बाँटा जा सकता है —

(1) कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि चिन्तन के लिए भाषा आवश्यक है। भाषा के अभाव में चिन्तन की प्रक्रिया नहीं हो सकती है। अतः चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा प्रभावित होती है तथा निर्धारित भी होती है। इस प्रकार के विचार रखने वाले मनोवैज्ञानिकों में सापिर (Sabir) तथा उनके शिष्य वोर्फ (Whorf-1956), ब्रुनर (Bruner, 1964), आदि का नाम अधिक प्रसिद्ध है।

सापिर का कहना यह था कि भाषा द्वारा चिंतन की प्रक्रिया काफी हद तक प्रभावित होती है। इस प्राक्कल्पना का समर्थन ब्रुनर के प्रयोगात्मक सबूतों द्वारा होता है। इन्होंने शिशुओं तथा प्राक् स्कूली छात्रों पर प्रयोग किया और पाया कि इन बच्चों के चिन्तन की प्रक्रिया तथा संज्ञानात्मक विकास अधिक सीमित इसलिए होता है क्योंकि इनमें भाषा पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती है। इनके अध्ययन के अनुसार 6-7 साल की उम्र में बच्चे सोचने के लिए अच्छी तरह से भाषा का उपयोग प्रारंभ कर देते हैं। चूँकि प्राक्-स्कूली बच्चों की उम्र 6 साल से नीचे होती है और उनमें भाषा का विकास पूर्ण नहीं रहता अतः उनका संज्ञानात्मक विकास विशेष रूप से चिन्तन की प्रक्रिया ठीक ढंग से नहीं हो पाती है। अतः इस प्रयोग से स्पष्ट है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया प्रभावित होती है।

पशुओं पर भी कुछ अध्ययन इस तरह

के किये गये जिनसे यह पता चलता है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया काफी हद तक प्रभावित होती है। प्रीमैक (Premack, 1983) ने एक इस तरह का अध्ययन "साराह" नामक वनमानुष पर किया। इस वनमानुष को प्लास्टिक के बने भिन्न-2 आकारों तथा रंगों के वस्तुओं के सहारे कई शब्दों को सिखलाया गया। प्लास्टिक के बने प्रत्येक वस्तु का अर्थ एक खास शब्द होता था। कई साल के प्रशिक्षण देने के बाद "साराह" ने 100 शब्दों को सीख लिया और इन शब्दों के सहारे वह अपनी आवश्यकताओं (needs) को भी अभिव्यक्त करना सीख लिया। बाद में प्रीमैक ने "साराह" को दूसरे अन्य वनमानुषों, जिन्हें ऐसा प्रशिक्षण नहीं दिया गया था, के साथ प्रयोगशाला में कई कठिन एवं जटिल समस्याओं का समाधान ढूँढने के लिए दिया। परिणाम में देखा गया कि "साराह" ने अन्य वनमानुषों की अपेक्षा इन समस्याओं का समाधान जल्दी कर लिया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि "साराह" को भाषा का प्रशिक्षण दिया गया था। इस प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया प्रभावित होती है।

"व्हॉर्फ" ने अपने गुरु सापिर के इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहा कि भाषा द्वारा चिन्तन प्रभावित होती है, तथा निर्धारित भी होती है। सच में व्हॉर्फ के इस योगदान को मनोवैज्ञानिकों द्वारा अधिक मान्यता मिली है। "व्हॉर्फ" की प्राक्कल्पना (hypothesis) यह थी कि भाषा का विकास चिन्तन की प्रक्रिया से पहले होती है तथा चिन्तन की प्रक्रिया का निर्धारण पूर्ण-रूप से भाषा द्वारा ही होता है।

प्राक्कल्पना (Hypothesis)

(2) मनोवैज्ञानिकों का एक दूसरा समूह ऐसा भी

है जिसने इस विचार के ठीक विपरीत विचार व्यक्त किया है। इसमें पियाजे (piaget 1923) तथा क्लार्क (clark 1973) का नाम अधिक प्रसिद्ध है। इन मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि चिन्तन की प्रक्रिया व्यक्ति में पहले होती है और बाद में उससे संबंधित शब्दों (या भाषा) का विकास होता है। दूसरे शब्दों में चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा प्रतिबिम्बित (reflect) होती है न कि निर्धारित होती है। पियाजे ने अपने प्रयोग में कि कुछ शब्द जैसे बड़ा, छोटा, लम्बा, दूर आदि का अर्थ बच्चा तबतक नहीं समझता है जबतक कि उसमें इन शब्दों से संबंधित तार्किक संप्रत्ययों का विकास नहीं होता है।

(3) कुछ मनोवैज्ञानिक ऐसे भी हैं जो इन दो विपरीत विचारों के बीच-बीच अपना विचार रखते हैं। ऐसे मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि भाषा तथा चिन्तन दो ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो प्रारंभ में अलग-2 तथा स्वतन्त्र रूप से विकसित होती है। किसी एक का विकास दूसरे द्वारा प्रभावित नहीं होता है। रूसी मनोवैज्ञानिक वाइगोटस्की (Vygotsky 1962) का ऐसा ही विचार है। इनके अनुसार दो साल तक की अवस्था में चिन्तन तथा भाषा का विकास बिना एक दूसरे को प्रभावित किए हुए होता है। पर उसके बाद चिन्तन की अभिव्यक्ति शब्दों में होने लगती है तथा बच्चे शब्दों का प्रयोग भी विवेकपूर्ण ढंग से करने लगते हैं।

अतः उपर्युक्त वर्णन किये गये तथ्यों (Facts) के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया प्रभावित अथवा निर्धारित होती है। परन्तु इसके आधार पर यह कह देना कि सभी उच्चतर

चिन्तन भी निश्चित रूप से भाषा पर ही निर्भर होते हैं, सही नहीं है।